भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकलपनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

वेदों में राजनीतिक प्रशासन

सुश्री रितु सारस्वत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वेद शब्द का उद्‌गम 'विद्' धातु से माना गया है, जिसका आशय ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारणा से है। धञ् प्रत्यय के प्रयोग से इसका निष्पादन होता है और इसका प्रमुख अर्थ 'ज्ञापक' अर्थात् जो ज्ञापन करता है, ज्ञान प्रदान करता है, माना गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में 'वेद' की व्यापक व्याख्या करते हुए लिखा है—"विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति लभन्ते, विदन्ते विचारयन्ति, सर्वे मनुष्या: सर्वा: सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विदवांसश्च भवन्ति ते वेदा: ।" इस व्याख्या में वेद को ज्ञान का अक्षय स्रोत, जीवनोपयोगी सत्यविद्या का भण्डार और मानवता को सही दिशा देने वाला मार्गदर्शक माना गया है।

वेद सार्वजनीन हैं क्योंकि उनमें वर्णित ज्ञान किसी विशेष जाति, वर्ग या राष्ट्र तक सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए है। वेदों की शिक्षाएँ सार्वभोम हैं, अर्थात् वे किसी भौगोलिक सीमाओं में बंधी हुई नहीं, बल्कि विश्वव्यापी हैं। इनका उद्देश्य मानव मात्र के कल्याण के लिए है, चाहे वह किसी भी देश, काल या समुदाय का हो।

वेद मानव-चिन्तनधारा के अक्षय कोष हैं। उनमें जीवन के प्रत्येक पक्ष का वर्णन मिलता है—धर्म, राजनीति, शिक्षा, विज्ञान, समाज व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, कला, संस्कृति और आध्यात्मिकता सभी का उसमें उल्लेख है। इस दृष्टि से वे केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के सूत्रग्रन्थ हैं।

हमारे मन्त्रदृष्टा ऋषिगण न केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टा थे, बल्कि राष्ट्र के प्रति भी पूर्णतया सजग थे। उनकी दृष्टि में राष्ट्र केवल राजनैतिक सत्ता नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक और आध्यात्मिक इकाई था। वेदों में बार-बार यह प्रतिपादित किया गया है कि राष्ट्र और समाज का निर्माण तभी सम्भव है जब उसकी नींव सत्य, न्याय, धर्म और परोपकार पर टिकी हो।

वैदिक राष्ट्र का मूल भाव सर्वजनहित और सर्वजनसुख में निहित है। इसका अर्थ है कि राष्ट्र की सत्ता किसी विशेष वर्ग या व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जनता के हित के लिए है। वेद इस दृष्टिकोण से लोकतांत्रिक और मानवतावादी आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जहाँ शासन और व्यवस्था का ध्येय केवल सबके कल्याण और सुख की प्राप्ति

है।

अत: वेदों का स्वरूप केवल धार्मिक उपदेशों तक सीमित नहीं, बल्कि वह सार्वजनीन और सार्वभौमिक जीवन-दर्शन है। इसमें व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र तक की उन्नति के लिए आवश्यक ज्ञान, नीति और मार्गदर्शन निहित है। वेदों की यह विशेषता ही उन्हें विश्वमानवता के लिए प्रासंगिक बनाती है और यही कारण है कि उन्हें 'अपौरुषेय' और 'अनादि' कहा गया है।

राष्ट्र का स्वरूप केवल भौगोलिक सीमाओं या राजनीतिक संस्थाओं से निर्मित नहीं होता, बल्कि भूमि, जन और संस्कृति का त्रिवेणी संगम ही राष्ट्र को पूर्णता प्रदान करता है। भूमि राष्ट्र का भौतिक आधार है, जिस पर उसका अस्तित्व टिका है। जन उस भूमि का जीवन है, जो उसे चेतना और गति प्रदान करता है। संस्कृति उस राष्ट्र का आत्मतत्व है, जो उसकी विशिष्ट पहचान और जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करती है। जब ये तीनों तत्व परस्पर समन्वय में कार्य करते हैं, तभी राष्ट्र अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है।

आधुनिक युग में, जिसे भूमण्डलीकरण का युग कहा जाता है, राजनीति का महत्व और भी बढ़ गया है। आज विश्व के राष्ट्र अपने आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों के आधार पर परस्पर संबंधों को सजाने-संवारने में लगे हैं। राष्ट्रों के बीच शक्ति-संतुलन, व्यापारिक सहयोग, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सुरक्षा की गारण्टी इसी राजनीतिक चिन्तन और उसकी व्यावहारिक नीतियों पर आधारित है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि राजनीति केवल शासन-प्रशासन का साधन नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राष्ट्र की आंतरिक प्रगति की धुरी है।

भारतवर्ष का इस परिप्रेक्ष्य में स्थान अत्यन्त विशेष है। यह विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और गणराज्य के रूप में इसकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाकर न केवल विश्व के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया है, बल्कि अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और सांस्कृतिक धरोहर को भी पुनर्जीवित किया है। भारत को यह विशिष्टता इस कारण प्राप्त हुई है कि इसके पास वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक एक अविरल, गंगाजल-सा निर्मल और जीवनदायी राजनीतिक चिन्तन प्रवाह विद्यमान है। वैदिक ऋषियों से लेकर आधुनिक मनीषियों तक, यहां की चिंतन-परम्परा केवल शासन की तकनीक तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसे नैतिकता, धर्म और लोककल्याण से अभिन्न रूप से जोड़ा गया।

भारत का संविधान इस दीर्घ परम्परा का आधुनिक स्वरूप है। 26 जनवरी 1950 को जब यह संविधान लागू हुआ, तब यह राष्ट्र के लिए केवल नियमों और प्रावधानों का दस्तावेज नहीं रहा, बल्कि 'राष्ट्र-मन्दिर' का प्राणतत्व बनकर स्थापित हुआ। इसकी प्रस्तावना और विभिन्न अनुच्छेद इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि भारतीय राजनीति

का ध्येय केवल सत्ता-प्राप्ति नहीं, बल्कि नागरिकों के जीवन में सुख, समृद्धि और सम्पन्नता की स्थापना है। संविधान भारतीय जनमानस को दिशा देता है, उसे जीवन में समानता, न्याय और स्वतंत्रता का भाव प्रदान करता है और इस प्रकार राष्ट्र को निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर करता है।

वेदों के पठन से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल केवल धार्मिक और आध्यात्मिक चिन्तन का युग नहीं था, बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यन्त समुन्नत और संगठित था। उस समय की शासन-व्यवस्था, राजसत्ता और सामाजिक संगठन इतने सुदृढ़ थे कि वे आज भी राजनीतिक चिन्तन की आदर्श भूमि माने जा सकते हैं।

वेदों में उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में समाज में कोई राजसत्ता नहीं थी। अथर्ववेद (8.10) में उल्लेख है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'विराज' की स्थिति थी, अर्थात् सब लोग स्वतंत्र थे और कोई राजा नहीं था। परन्तु धीरे-धीरे समाज ने यह अनुभव किया कि व्यवस्था बनाए रखने और सबके हित की रक्षा के लिए किसी संगठित सत्ता की आवश्यकता है। तब क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि की व्यवस्था, सभा और समितियों का गठन तथा आमन्त्रण की प्रथा विकसित हुई। यह इस बात का परिचायक है कि राजसत्ता का जन्म समाज की आवश्यकता और सामूहिक इच्छा से हुआ, न कि किसी व्यक्ति के बल या अधिकार से।

वेदों में 'राष्ट्र' और 'देश' दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद (19.30.3) में कहा गया है—'त्वं राष्ट्राणि रक्षसि' अर्थात् तू राष्ट्रों की रक्षा करता है। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र को एक जीवंत इकाई के रूप में देखा गया, जिसकी रक्षा और समृद्धि शासक का परम कर्तव्य था। इसी प्रकार अथर्ववेद (19.9.3) में प्रार्थना की गई है—'देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु' अर्थात् देश पर आने वाले संकटों और दैवी प्रकोपों का शमन हो। इससे यह तथ्य सिद्ध होता है कि वैदिक लोग न केवल राष्ट्र की संकल्पना से परिचित थे, बल्कि उसकी सुरक्षा और स्थिरता के प्रति भी सजग थे।

राजनीतिक संगठन की दृष्टि से उस युग में राजा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। राजा का निर्वाचन होता था और उसका दायित्व केवल शासन करना ही नहीं, बल्कि प्रजा की रक्षा, धर्म की स्थापना और अर्थ-व्यवस्था का संतुलन बनाए रखना भी था। राजा के साथ मंत्रिमण्डल होता था, जो उसे निर्णय लेने में सहयोग देता था। यह मंत्रिमण्डल केवल प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि शासन का सक्रिय अंग था।

सभा और समिति वैदिक काल की प्रमुख संस्थाएँ थीं। सभा में विद्वान और अधिकारी लोग सम्मिलित होते थे, जहाँ गम्भीर विषयों पर विचार होता था, जबकि समिति में जनसाधारण की भागीदारी होती थी। यह व्यवस्था प्राचीन भारतीय लोकतांत्रिक परम्परा का द्योतक है, जहाँ शासक प्रजा की इच्छाओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्य करता था।

वेदों में अर्थव्यवस्था और कर-व्यवस्था के भी उल्लेख मिलते हैं। कर वसूलना राजा का अधिकार था, परन्तु उसका उद्देश्य व्यक्तिगत विलासिता नहीं, बल्कि प्रजा और राष्ट्र की सुरक्षा तथा उन्नति के लिए था। शस्त्र-शक्ति और युद्ध-नीति का भी वेदों में उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए सैन्य संगठन को भी महत्त्व दिया जाता था।

यजुर्वेद में आदर्श राष्ट्र के तीन प्रमुख गुण बताए गए हैं—

(1) स्वराजस्थ – राष्ट्र स्वतंत्र होना चाहिए, किसी अन्य शक्ति के अधीन नहीं।

(2) दनभृतस्थ – राष्ट्र को प्रजाजनहितकारी होना चाहिए, जिससे लोगों का जीवन सुखमय बने।

(3) विश्वभृतस्थ – राष्ट्र केवल अपने तक सीमित न रहकर समस्त विश्व के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो।

इस प्रकार वैदिक राजनीतिक चिन्तन न केवल संगठित और समुन्नत था, बल्कि आज भी प्रासंगिक है। उसमें शासन का उद्देश्य सत्ता-लिप्सा नहीं, बल्कि प्रजा का कल्याण, राष्ट्र की रक्षा और विश्वशान्ति था। यही कारण है कि वैदिक राजनीतिक व्यवस्था को मानव सभ्यता की प्राचीनतम लोकतांत्रिक और मानवतावादी परम्पराओं में गिना जाता है।

अथर्ववेद में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि किसी राष्ट्र की वास्तविक उन्नति और स्थायित्व के लिए अनुशासन तथा समर्पण का होना अत्यावश्यक है। ऋषियों ने राष्ट्र के उत्थान का आधार केवल भौतिक शक्ति या संपदा को नहीं माना, बल्कि तप (आत्मनियंत्रण, अनुशासन) और दीक्षा (कर्तव्य के प्रति समर्पण, व्रत) को मूलभूत तत्त्व बताया। मंत्र—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप निषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ (अथर्ववेद)

इसमें कहा गया है कि श्रेष्ठ कल्याण की इच्छा रखने वाले, स्वर्गमार्ग के ज्ञाता ऋषियों ने राष्ट्र की उन्नति हेतु प्रारम्भ में तप और दीक्षा का आश्रय लिया। इन्हीं से राष्ट्र में बल और ओज का उद्भव हुआ, और ऐसे राष्ट्र को देवगण भी नमन करते हैं। इसका अर्थ है कि वैदिक राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्र की शक्ति केवल भौतिक साधनों से नहीं, बल्कि नैतिक मूल्यों, अनुशासन और त्याग से उत्पन्न होती है।

ग्राम

राजनीतिक संगठन की दृष्टि से वैदिक समाज में शासन-व्यवस्था का मूल आधार ग्राम इकाई थी। ग्राम सबसे छोटी राजनीतिक इकाई थी, जिसमें लोगों का सामूहिक जीवन संगठित रूप से चलता था। ग्राम का प्रमुख 'ग्रामीण' कहलाता था। यह केवल औपचारिक पदाधिकारी नहीं था, बल्कि ग्राम की समस्त गतिविधियों का संचालनकर्ता और प्रतिनिधि था। ग्रामीण का विधिवत् निर्वाचन होता था, अर्थात् जनता की सहमति

और विश्वास के आधार पर वह चुना जाता था।

ग्रामीण को इतना महत्व दिया गया था कि उसे राजा के निर्वाचन में भी भाग लेने का अधिकार था। इसका अर्थ यह है कि शासन की शक्ति ऊपर से थोपी हुई नहीं थी, बल्कि नीचे से ऊपर की ओर निर्मित होती थी। इसीलिए ग्रामीण को 'राजकृत' कहा गया—अर्थात् वह जो राजा के निर्माण या निर्वाचन में सहयोगी हो।

इसके साथ ही वैदिक राजनीति में 'विश्' और 'जन' का भी उल्लेख मिलता है।

* **विश्** ग्राम से बड़ी इकाई थी, जिसमें अनेक ग्रामों का संगठन होता था।
* **जन** विश् से भी व्यापक स्वरूप था, जिसमें एक जाति या वंश के अंतर्गत आने वाले लोग सम्मिलित होते थे।

इस प्रकार वैदिक समाज की राजनीतिक व्यवस्था का क्रमिक विकास 'ग्राम-विश्-जन-राष्ट्र' की रचना में दिखाई देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग की राजनीति न केवल संगठित और अनुशासित थी, बल्कि उसमें लोकतांत्रिक मूल्यों और सामूहिक सहभागिता की भावना भी निहित थी।

इस व्यवस्था में राष्ट्र केवल भौगोलिक या सैनिक शक्ति का नाम नहीं था, बल्कि एक ऐसी जीवंत इकाई थी, जिसमें अनुशासन, समर्पण, नैतिक शक्ति और प्रजा की सक्रिय सहभागिता से वास्तविक बल और ओज उत्पन्न होता था।

ग्रामीण

वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था में 'ग्रामीण' अथवा ग्रामप्रधान की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। वेदों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

'ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्य ये।'

यह मंत्र इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि ग्रामीण केवल ग्राम का प्रतिनिधि ही नहीं था, बल्कि राजसत्ता के निर्माण और निर्वाचन की प्रक्रिया में भी भाग लेता था। अर्थात्, ग्राम की इकाई और उसके प्रतिनिधि को शासन के सर्वोच्च स्वरूप तक प्रभावशाली स्थान प्राप्त था। इससे प्रकट होता है कि शासनव्यवस्था का मूलाधार जनता थी और राजसत्ता जनमत पर आधारित होती थी।

ग्रामप्रधान का कार्य केवल प्रशासनिक सीमाओं तक सीमित नहीं था। वह ग्राम से सम्बन्धित सभी भूमि विवादों और पारिवारिक झगड़ों का निस्तारण करता था। इस दृष्टि से वह न्यायाधीश के समान था, जो समाज में शान्ति और संतुलन बनाए रखता था। ग्रामीण का यह कार्य न केवल न्याय की स्थापना करता था, बल्कि ग्रामवासियों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सजग भी करता था।

यजुर्वेद में 'सेनानी ग्रामण्यौ' का उल्लेख मिलता है, जहाँ सेनापति के साथ ग्रामीण का भी नाम आता है। इसका आशय यह है कि ग्रामीण केवल न्यायिक और प्रशासनिक

कार्य ही नहीं करता था, बल्कि सेना की तैयारी और सैनिक संगठन का भी उत्तरदायित्व निभाता था। वह ग्राम से सैनिकों की व्यवस्था करता था और युद्धकाल में सेना को सहयोग प्रदान करता था। इस प्रकार ग्रामीण शासन और सुरक्षा दोनों का संयोजक था।

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो ग्राम पंचायत और सरपंच की संस्था वैदिक कालीन ग्रामीण व्यवस्था का आधुनिक रूप प्रतीत होती है। आज भी ग्राम पंचायत का प्रमुख कार्य भूमि विवादों का समाधान करना, ग्रामवासियों को प्राथमिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना, जनकल्याणकारी योजनाओं को लागू करना तथा प्रशासन और शासन के बीच सेतु का कार्य करना है। जिस प्रकार वैदिक काल में ग्रामीण को समाज का प्रतिनिधि और राजसत्ता का अंग माना गया था, उसी प्रकार आज सरपंच भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से चुना जाता है और ग्राम की आकांक्षाओं तथा समस्याओं को शासन तक पहुँचाने का कार्य करता है।

इस प्रकार वैदिक 'ग्रामीण' और आधुनिक 'सरपंच' में उल्लेखनीय समानता है। दोनों ही स्तरों पर ग्राम की भूमिका राष्ट्र की नींव के रूप में स्वीकार की गई है। वैदिक राजनीतिक चिन्तन में यह धारणा थी कि राष्ट्र की सुदृढ़ता ग्रामों की सुव्यवस्था पर आधारित है और यही धारणा आज भी लोकतांत्रिक भारत में 'ग्राम स्वराज' के रूप में जीवित है।

वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था में संगठन की एक क्रमबद्ध शृंखला मिलती है, जिसमें ग्राम से लेकर राष्ट्र तक सत्ता का विस्तार होता था। ग्राम सबसे छोटी इकाई थी, उसके ऊपर 'विश्' का स्थान था।

विश् :- अनेक ग्रामों के समूह को 'विश्' कहा जाता था। इसका सर्वोच्च अधिकारी 'विश्पति' कहलाता था। ऋग्वेद में विश्पति का वर्णन नगरों का संरक्षक, पालक और 'पिता' के रूप में किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि विश्पति केवल प्रशासक नहीं, बल्कि जनता के कल्याण का ध्यान रखने वाला, जनपिता स्वरूप था। उसकी स्थिति आधुनिक काल के नगराध्यक्ष या जिला स्तर के प्रशासक के समान मानी जा सकती है।

विशों के समूह को 'जन' कहा जाता था। जन का सर्वोच्च शासक राजा होता था। राजा का महत्व केवल राजनीतिक शासन में नहीं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के संचालन में भी था। जन का निवास 'जनपदों' में होता था। 'जनपद' शब्द स्वयं इस तथ्य को प्रकट करता है कि यह जनसमुदाय का आधार क्षेत्र था—जन का निवास स्थान।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे लगभग 20 राज्यों (जनपदों) का उल्लेख मिलता है। ये जनपद राजनीतिक और सामाजिक इकाइयाँ थीं, जिनके संगठन से व्यापक राष्ट्र-धारा का निर्माण हुआ।

राष्ट्र :- अनेक जनपदों को मिलाकर 'राष्ट्र' का निर्माण होता था। राष्ट्र इस शृंखला की सबसे बड़ी इकाई थी। राष्ट्र का स्वरूप केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक भी था। इसीलिए वैदिक ग्रन्थों में राष्ट्र की रक्षा, उसकी उन्नति और उसके कल्याण के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। राष्ट्र को केवल सीमाओं से घिरा भूभाग नहीं, बल्कि जन-जीवन की सामूहिक शक्ति और सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक माना गया।

इस प्रकार वैदिक राजनीतिक व्यवस्था का क्रम था— ग्राम-विश्-जन-जनपद-राष्ट्र।

यह क्रम इस बात का द्योतक है कि वैदिक काल में राजनीतिक संरचना अत्यन्त संगठित थी। सत्ता का विकास ग्राम की इकाई से प्रारम्भ होकर राष्ट्र तक पहुँचता था, और प्रत्येक स्तर पर जनसहभागिता, अनुशासन तथा प्रजा के कल्याण का भाव निहित था। यही कारण है कि वैदिक राजनीतिक चिन्तन आज भी लोकतांत्रिक संगठन और जनकल्याणकारी शासन की आदर्श प्रेरणा के रूप में देखा जाता है।

राजा का निर्वाचन

वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था में राजा का निर्वाचन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया थी। राजा केवल वंशानुगत सत्ता का अधिकारी नहीं माना जाता था, बल्कि उसका चयन प्रजा की सहमति और गुणों के आधार पर किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में राजा के निर्वाचन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद में कहा गया है—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥

अथात् हे योग्य पुरुष! तुझे प्रजा राज्य के लिए चुने, तुझे ये पाँचों दिशाएँ देवियों के समान स्वीकार करें। तू राष्ट्र के शिखर पर स्थापित हो और फिर निर्भीक होकर प्रजाजन में सम्पत्ति का न्यायसंगत वितरण करे।

यह मंत्र स्पष्ट करता है कि राजा का चयन प्रजा (विश्) द्वारा होता था। चयन का आधार जन्म नहीं, बल्कि योग्यता, सामर्थ्य, न्यायप्रियता और प्रजाहित की भावना होती थी।

अथर्ववेद (6.87.1-2; 6.88.1-2) में भी राजा के चयन का उल्लेख मिलता है, जहाँ प्रजा अपने हित के लिए योग्य और बलशाली शासक को चुनती है। इन मन्त्रों से यह भी सिद्ध होता है कि राजा की नियुक्ति समिति द्वारा की जाती थी। समिति एक प्रकार की जनसभा थी, जिसमें गणमान्य व्यक्तियों तथा प्रजा के प्रतिनिधियों की भागीदारी होती थी।

राजा के निर्वाचन की प्रक्रिया सर्वसम्मति से होती थी। इसमें विशेष ध्यान इस बात पर दिया जाता था कि भावी शासक में वीरता, नैतिकता, धर्मपालन और जनहित की

भावना हो। वंश और कुल की अपेक्षा अधिक महत्त्व उसकी व्यक्तिगत उत्कृष्टता को दिया जाता था।

एक बार नियुक्त होने के बाद राजा का पद सामान्यत: जीवनपर्यन्त रहता था। किन्तु उसका पद पूर्णत: निरंकुश नहीं था। समिति और सभा जैसी संस्थाएँ उसके कार्यों की समीक्षा करती थीं। यदि राजा धर्म से विचलित होता या प्रजाहित की उपेक्षा करता, तो उसका त्याग भी सम्भव था।

इस प्रकार वैदिक कालीन राजसत्ता वास्तव में जनसहमति और लोककल्याण पर आधारित थी। राजा का स्थान राष्ट्र के शीर्ष पर था, किन्तु उसकी शक्ति का स्रोत प्रजा थी। यही कारण है कि वेदों में बार-बार यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा का कर्तव्य प्रजाजन की रक्षा करना, न्यायपूर्वक संपत्ति का वितरण करना और राष्ट्र को बलवान बनाना है।

राज्याभिषेक और शपथ ग्रहण

राजा के विधिवत् निर्वाचन के बाद उसका अभिषेक होता था । यजुर्वेद के अध्याय 9 और 10 में तथा शतपथ ब्राह्मण के काण्ड -5 में उसका विस्तृत वर्णन है । राज्याभिषेक के समय राजा को शपथ लेनी होती थी। मैं सत्यनिष्ठा के साथ शपथ लेता हूँ कि 'यां च रात्रिमजायेऽ हं यां च प्रतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।' 'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के मध्यम मैंने जो इष्टापूर्त (पुण्यकर्म) किये हों, वे सब नष्ट हो जायँ और मैं स्वर्ग, समस्त शुभ कर्म, आयु और संतान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से देश और जनता के प्रति द्रोह करूँ।' इससे ज्ञात होता है कि देशद्रोह और जनता के साथ विश्वासघात राजा के लिए अक्षम्य अपराध था।

मुकर वर्तमान में चुनाव के पूर्व हरेक पक्ष अपने अपने घोषणापत्र में प्रजालक्षी, राज्यलक्षी और राष्ट्रलक्षी कार्य करने की घोषणा करता है। प्रजा के सामने विविध प्रलोभन रखके विजयी हो जाता है । बाद मे अपने वादे से जाता है। आज भी मन्त्री और प्रधानमन्त्री का शपथ समारोह तो होता है, शपथ भी ग्रहण की जाती है पर उसका अमल न करने पर कोई सजा नहीं की जाती क्योंकि वर्तमान में उन्हे अक्षम्य अपराध ही नहीं माना जाता। वर्तमान के राजाधिकारियों को हमें शतपथ ब्राह्मण का यह विधान याद कराना होगा कि राज्यपद ग्रहण करने के समय उसे यह याद रखना पडेगा कि -

इयं ते राट्- यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।'

राजा का कार्य

वैदिक काल में राज्याभिषेक के समय ही वेदों में राजा के कर्तव्यों और उसकी

जिम्मेदारियों का स्पष्ट निर्देश मिलता है। यह केवल औपचारिक पद-ग्रहण न होकर, सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए उसकी भूमिका और कर्तव्यों की परिभाषा भी थी।

(1) राष्ट्र की रक्षा और नियमन :- राजा से कहा गया— 'तुम्हें यह राष्ट्र सौंपा गया है, तुम इसके नियन्ता हो।'

इससे स्पष्ट होता है कि राजा को राष्ट्र का केवल शासक नहीं, बल्कि उसका रक्षक और नियामक माना गया। वह प्रजा की सुरक्षा और शांति सुनिश्चित करता था।

(2) कृषि और आर्थिक समृद्धि का संवर्द्धन :- वेदों में कृषि को राष्ट्र की समृद्धि का आधार माना गया है। राजा को निर्देश था कि वह कृषि को उन्नत करे जिससे अन्न की प्रचुरता हो। अन्नवृद्धि से प्रजा का पोषण होगा और राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगी।

(3) जनकल्याण और प्रजारण्जन :- अथर्ववेद (6.87, 6.88) और ऋग्वेद में उल्लेख है कि राजा का स्थायित्व प्रजा के संतोष और कल्याण पर आधारित है। प्रजा का रंजन ही राज्य को स्थिर और सुदृढ़ करता है।

(4) राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गौरव की वृद्धि :- आर्थिक समृद्धि और राष्ट्रीय सुदृढ़ता से देश की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

अथर्ववेद में स्पष्ट निर्देश है—

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभागाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः

अर्थात् हे राजन्! इस राष्ट्र को सुदृढ़ करो, इसे सौभाग्य की ओर ले चलो, ताकि समस्त देवता भी इसमें आनंदित हों।

(5) कठोर अनुशासन और न्याय-व्यवस्था :- ऋग्वेद (10.128.9) में राजा को कठोर अनुशासन का पालन करने का आदेश है। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि राजा उग्रवादी और दुष्ट व्यक्तियों को कठोर दण्ड दे। अपराधियों और दुर्जनों के प्रति कठोर रहे। परंतु, मित्रों और सज्जनों के प्रति प्रेमपूर्ण और उदार व्यवहार करे।

राजा का कर्तव्य और प्रजा का दायित्व

वेदों में राजा का स्वरूप केवल एक शासक या बलशाली शूरवीर के रूप में नहीं, बल्कि धर्म, न्याय, सुरक्षा और प्रजा-कल्याण का संवाहक बताया गया है। उसका मुख्य कर्तव्य यह था कि वह अपनी प्रजा को भयमुक्त और समृद्ध वातावरण प्रदान करे।

(1) सुरक्षा और निर्भयता का वातावरण :- राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा को भयमुक्त करना था। ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों में राजा से अपेक्षा की गई है कि वह— समाज में भय का वातावरण न रहने दे, अपराधियों और दुष्ट प्रवृत्तियों का दमन करे, और साधारण जनता को निर्भय जीवन का अवसर दे।

वेद में कहा गया है—

उग्रं लोहितेन, मिश्रं सौव्रत्येन, रुद्रं दौव्रत्येन।

इसका अभिप्राय यह है कि राजा को आवश्यकता पड़ने पर कठोरता (उग्रता) का प्रयोग करना चाहिए, लेकिन उसके साथ सौम्यता और न्यायप्रियता का संतुलन बनाए रखना भी आवश्यक है। राजा यदि केवल कठोर हो जाएगा तो प्रजा आतंकित हो जाएगी, और यदि केवल उदार होगा तो दुष्टजन सिर उठाने लगेंगे। अत: उसका चरित्र 'उग्रता और सौम्यता' दोनों का समन्वय होना चाहिए।

(2) प्रजा और राजा का पारस्परिक सम्बन्ध :- राजा का कर्तव्य केवल प्रजा की रक्षा करना नहीं था, बल्कि वह प्रजा को सक्रिय और कर्मशील बनाए रखने का भी प्रयास करता था।

वेदों में कहा गया है— **'अभियानि कृण्वन्'** अर्थात राजा अभियान चलाए, नीतियां बनाए और ऐसे कार्य करे जिनसे समाज संगठित और प्रगतिशील बन सके।

साथ ही, प्रजा का भी यह दायित्व था कि वह राजा को पूरा सहयोग और समर्थन दे। केवल राजा पर ही राष्ट्र की जिम्मेदारी नहीं थी, बल्कि प्रजा को भी राजा के प्रति समर्पित होकर उसकी नीतियों का पालन करना पड़ता था। यही कारण है कि वेदकालीन शासन में 'सहयोग और परस्पर विश्वास' पर बल दिया गया।

(3) व्यापार और शिक्षा का संरक्षण :- राजा को विशेष रूप से यह निर्देश दिया गया कि वह व्यापार और शिक्षा की रक्षा करे। व्यापारी वर्ग राष्ट्र की आर्थिक उन्नति का आधार था। व्यापारियों की सुरक्षा से न केवल आंतरिक व्यापार समृद्ध होता था, बल्कि बाहरी देशों के साथ संबंध भी मजबूत होते थे। इसी प्रकार विद्वान और शिक्षक वर्ग समाज की बौद्धिक और सांस्कृतिक शक्ति थे। उनका संरक्षण कर राजा यह सुनिश्चित करता था कि समाज में ज्ञान, नैतिकता और संस्कृति की धारा निरंतर प्रवाहित होती रहे।

वेद में स्पष्ट कहा गया है— **'रक्षां च नो मघोनः पाहि सूरीन।'** अर्थात हे राजन्! हमारी रक्षा करो और विद्वानों का भी संरक्षण करो। इससे स्पष्ट होता है कि विद्वान और व्यापारी दोनों ही राष्ट्र की रीढ़ थे, और राजा का कर्तव्य था कि वह इन्हें सम्मान और सुरक्षा प्रदान करे।

(4) राज्य और लोक-सुविधाओं का प्रबन्ध :- राजा को केवल राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं तक सीमित नहीं रखा गया। अथर्ववेद (12-1-47) में स्पष्ट कहा गया है कि— राज्य का दायित्व है कि वह सड़कों और पुलों का निर्माण कराए। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदकालीन समय में भी राजा की भूमिका 'लोक निर्माण' और 'सार्वजनिक सुविधा' उपलब्ध कराने तक विस्तृत थी। सड़कें और पुल न केवल व्यापार के साधन थे, बल्कि सामाजिक संपर्क और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के भी माध्यम थे। यह व्यवस्था आधुनिक शासन की लोक निर्माण विभाग की तरह थी।

आज जब हम आधुनिक लोकतंत्र की बात करते हैं, तब भी वेदकालीन राजा का

यह आदर्श स्वरूप प्रेरणा देता है कि शासक केवल सत्ता भोगी न होकर, राष्ट्र और समाज का सेवक तथा संरक्षक होना चाहिए।

राजा और राजकृत

वेदकालीन शासनव्यवस्था में राजा केवल अकेला निर्णयकर्ता नहीं था। उसका प्रशासन मंत्रिमण्डल और सहयोगियों के सहयोग से संचालित होता था। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में राजा के नियन्त्रण और राजकार्य में सहायकों को 'राजकृत' कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण (13.5.3-1) में उल्लेख मिलता है कि राजा के अधिकारी जिन्हें रत्नि (प्रतिनिधि) कहा जाता था, वे अभिषेक से पूर्व राजा के पास जाकर उसे परामर्श देते थे। यह प्रक्रिया यह दर्शाती है कि राजा का निर्णय एकान्त नहीं, बल्कि समन्वय और परामर्श पर आधारित था।

(1) वैदिक मंत्रिमण्डल और राजकृत :- राजकृत राजा के प्रशासनिक और सामरिक कार्यों में सहायक होते थे। ऋग्वेद (10.62.11; 10.107) में उनके विभिन्न पदों का उल्लेख मिलता है—

सेनानी (सेनापति) :- सेना के संगठन और रक्षा कार्य का प्रमुख।

पुरोहित :- धार्मिक अनुष्ठानों और नीति मार्गदर्शन का अधिकारी।

अभिषेचनीय :- राज्याभिषेक आदि महत्वपूर्ण संस्कारों में राजा के साथ।

राजा और महिषी (महारानी) :- शासक और उसकी मुख्य पत्नी।

सूत :- इतिहासकार और शास्त्रीय ग्रन्थों के लेखक।

ग्रामीण (वैश्य) :- ग्राम और स्थानीय प्रशासन का प्रतिनिधि।

संग्रहीत (कोषाध्यक्ष) :- राज्य के वित्त का प्रबन्ध।

अक्षावाप :- आय-व्यय निरीक्षक।

भागदुह :- कर-उपार्जन और संग्रह।

गोविकतृजू :- अरण्यपाल और भूमि संरक्षण अधिकारी।

पालागल :-विशिष्ट सन्देश वाहक।

इस प्रकार राजकृत विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखते थे, और उनका कार्य केवल राजा का सेवक होना नहीं, बल्कि संपूर्ण प्रशासन का संरक्षक और क्रियान्वयनकर्ता होना था।

(2) समिति या मंत्रिमण्डल :- वेदों में मंत्रिमण्डल के लिए 'समिति' शब्द प्रयोग में आता है। आचार्य कौटिल्य ने इसे आधुनिक दृष्टि से '**मन्त्रिपरिषद**' कहा और इसकी संख्या 12 बताई—

'मंत्रिपरिषद द्वादशामात्यां कुर्वीत।'

मंत्रिपरिषद के सदस्य दो भागों में विभाजित थे— राजानो राजकृत (राजपरिवार से संबद्ध) और अराजानो राजकृत (राजपरिवार से असंबद्ध)। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि शासन में केवल वंशानुगत अधिकार पर निर्भरता नहीं थी, बल्कि योग्यता, कार्यक्षमता और वर्णानुसार विभाजन भी था।

(3) सदस्यों की संख्या और संगठन :- महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और शुक्रनीति में मंत्रियों की संख्या, उनकी जिम्मेदारियाँ और वर्गीकरण विस्तृत रूप से वर्णित हैं। यह दर्शाता है कि वैदिक शासन केवल राजा के एकान्त निर्णय पर आधारित नहीं था, बल्कि समीक्षा, परामर्श और विविध विशेषज्ञों की सहमति पर आधारित था।

सभा और समिति का संगठन

सभा और समिति का गठन राजा के नेतृत्व में किया जाता था। राजा स्वयं इन संस्थाओं के संरक्षक और मार्गदर्शक होते थे। सभा का कार्य मुख्यत: न्यायिक और सामाजिक निर्णय लेना था। समिति का कार्य नीति निर्माण और प्रशासनिक कार्यों का संचालन करना था।

इन दोनों संस्थाओं में शामिल सदस्य वेदों के अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों से चुने जाते थे, जिससे सभी सामाजिक और आर्थिक समूहों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित होता था।

निर्णय प्रक्रिया :- सभा और समिति में निर्णय सर्वसम्मति और परामर्श के आधार पर लिए जाते थे। राजा अपने सुझाव देते थे, परंतु अंतिम निर्णय केवल उनकी इच्छा से नहीं, बल्कि सदस्यों के विचार और विशेषज्ञता पर आधारित होता था। गंभीर विषयों पर चर्चा होती और सभी राजकृतों और मंत्रियों की राय ली जाती थी। इस प्रक्रिया में न्याय, नीति, और लोकहित का पूर्ण ध्यान रखा जाता था।

इस दृष्टि से यह प्रारंभिक रूप का लोकतांत्रिक शासन माना जा सकता है, जहाँ केवल एक व्यक्ति का निर्णय नहीं, बल्कि समूह की बुद्धि और अनुभव निर्णायक होते थे।

(3) लोकहित और राज्यहित का संतुलन :- सभा और समिति का मूल उद्देश्य था लोकहित और नृपहित।

लोकहित :- प्रजा का कल्याण, उनके जीवन की सुरक्षा, न्याय, शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था।

नृपहित (राज्यहित) :- राज्य की सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि, सामाजिक स्थिरता और राष्ट्रीय गौरव।

उदाहरण स्वरूप: यदि किसी ग्राम में भूमि विवाद उत्पन्न होता तो सभा उसका न्यायसंगत समाधान करती। यदि राज्य के वित्त या कर नीति में सुधार की आवश्यकता

होती तो समिति इसका निर्णय करती। युद्ध या रक्षा सम्बन्धी नीति पर राजा सेनापति और मंत्रियों के परामर्श से निर्णय लेता।

(4) सदस्य और वर्ग प्रतिनिधित्व :- सभा और समिति में शामिल सदस्य समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे।

ब्राह्मण (पुरोहित) - धर्म और नीति मार्गदर्शन।

क्षत्रिय (राजन्य) - युद्ध और सुरक्षा।

वैश्य (ग्रामीण, व्यापारी) - ग्राम और आर्थिक व्यवस्था।

शूद्र (पालागल) - प्रशासनिक सहायता और संदेशवाहक।

शिल्पी (तक्षा) - निर्माण और वास्तुकला।

इस वर्ग-प्रतिनिधित्व से यह सुनिश्चित होता था कि सभी वर्गों की आवाज निर्णय प्रक्रिया में शामिल हो और शासन समग्र रूप से न्यायपूर्ण हो।

(5) प्रशासनिक और सामाजिक महत्त्व :- सभा और समिति केवल निणज़्य लेने तक सीमित नहीं थीं। वे— राजनीति, न्याय और अर्थव्यवस्था का समन्वय करती थीं। सामाजिक और धार्मिक संस्कारों की निगरानी करती थीं। प्रजा को शासन में शामिल करके सहयोग और विश्वास सुनिश्चित करती थीं।

इस प्रकार, यह प्रणाली वैदिक लोकतंत्र का प्रारंभिक रूप थी, जिसमें राजा और मंत्रियों के सहयोग से निर्णय किए जाते थे और जनता के हित का सर्वोच्च महत्व था।

समिति के कार्य

वैदिक काल में समिति केवल प्रशासनिक निकाय नहीं थी, बल्कि यह राज्य के सर्वोच्च निर्णय और नियंत्रण केंद्र के रूप में कार्य करती थी। वेदों में समिति के प्रमुख कार्यों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है, जिससे यह पता चलता है कि वैदिक शासन अत्यंत संगठित और न्यायप्रिय था।

(1) राजा का निर्वाचन :- समिति का एक प्रमुख कार्य राजा का निर्वाचन था। राजा का चयन केवल वंशानुगत अधिकार या शक्ति के आधार पर नहीं होता था, बल्कि सदस्यों की सर्वसम्मति और गुणों के आधार पर किया जाता था। समिति यह सुनिश्चित करती थी कि राजा सक्षम, न्यायप्रिय और प्रजा हितैषी हो। इसके माध्यम से राज्य में नेतृत्व का उत्तराधिकार योग्यता और प्रतिष्ठा पर आधारित होता था।

(2) राजा के कर्तव्यों का निर्धारण :- समिति राजा के कर्तव्यों और दायित्वों का निर्धारण करती थी। राजा को केवल शासन करना नहीं, बल्कि प्रजा की सुरक्षा, राज्य की आर्थिक समृद्धि, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक संरक्षण सुनिश्चित करना होता था। समिति यह स्पष्ट करती थी कि राजा का शासन केवल सत्ता का प्रदर्शन नहीं, बल्कि लोकहित और राष्ट्रहित की सेवा हो।

(3) राजा की जवाबदेही :- यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, तो समिति का अधिकार था कि वह— राजा को पदच्युत कर दे, या राज्य से निर्वासित कर दे।

यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से यह संकेत देती है कि वैदिक शासन में राजा भी सर्वशक्तिमान नहीं था, बल्कि समीक्षा और उत्तरदायित्व के अधीन था। इसका उद्देश्य था कि राष्ट्र और प्रजा का हित सर्वोपरि रहे।

(4) पुनः गद्दी पर बैठाना :- यदि राजा ने प्रायश्चित, दंड या सुधारात्मक उपाय किए, तो समिति उसे पुन: राजसिंहासन पर बैठा सकती थी।

यह दर्शाता है कि वैदिक शासन में सुधार और क्षमा की व्यवस्था भी थी। केवल दण्डात्मक शासन नहीं, बल्कि सुधारात्मक और न्यायपूर्ण शासन की नीति अपनाई जाती थी।

(5) राष्ट्रीय आय-व्यय और आर्थिक नियंत्रण :- समिति राज्य की आर्थिक व्यवस्था पर भी नियंत्रण रखती थी। राष्ट्रीय आय और व्यय, कर प्रणाली और वित्तीय संसाधनों का निरीक्षण समिति द्वारा किया जाता था। इसका उद्देश्य था कि आर्थिक संसाधनों का संतुलित और न्यायपूर्ण उपयोग हो और प्रजा का कल्याण सुनिश्चित हो। इस प्रकार समिति वैदिक राज्य की आर्थिक स्थिरता और सामाजिक समृद्धि का आधार थी।

(6) अन्याय और अराजकता रोकना :- समिति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य में अन्याय, अत्याचार और अराजकता को रोकना था। यदि किसी क्षेत्र में अपराध, दुराचार या भ्रष्टाचार बढ़ता, तो समिति हस्तक्षेप करती थी। इसके माध्यम से राज्य में कानून और व्यवस्था बनाए रखना संभव होता था।

यह दर्शाता है कि वैदिक प्रशासन में न्याय और सामाजिक अनुशासन सर्वोच्च प्राथमिकता थी।

(7) समिति की अध्यक्षता :- समिति की अध्यक्षता राजा करता था, अत: उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। यह सुनिश्चित करता था कि राजा की नेतृत्व क्षमता और दृष्टिकोण समिति के निर्णयों में प्रतिबिंबित हो। राजा और समिति के बीच सहयोग और संतुलन राज्य की स्थिरता और प्रजा के कल्याण के लिए आवश्यक था।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि वेदों में वर्णित राजनीतिक प्रशासन एक समृद्ध और संतुलित व्यवस्था का प्रतीक है, जिसमें राजा, मंत्री, सभा, सेना, न्याय, और जनता सभी का विशेष स्थान है। यह व्यवस्था धर्म, नैतिकता, और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित थी, जो आज भी आधुनिक प्रशासनिक प्रणालियों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं।

❑❑❑